मेरा जीवन तथा ध्येय

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—पण्डित जगदीशप्रसाद व्यास, एम. ए.
प्राध्यापक, स्पेन्स ट्रेनिंग कालेज, जबलपुर

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

जुलाई १९५०] [मूल्य ॥)

भूमिका

पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय संस्करण रखते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यह भाषण स्वामी विवेकानन्द ने २७ जनवरी सन् १९०० में पासाडेना, केलिफोर्निया के शेक्सपियर क्लब के समक्ष दिया था। इसमें भारत के दुखी मानवों की वेदना से विह्वल उस महात्मा के हृदय का बोलता हुआ चित्र है। इसमें प्रस्तुत है उसका उपचार जिसके आधार पर मातृभूमि को पुन: अपने अतीत यश पर वे ले जाना चाहते थे। यही एक ऐसा अवसर था जब उन्होंने जनता के समक्ष अपने जी की जलन रखी, अपने आन्तरिक संघर्ष और वेदना को उघाड़ा।

मूल अंग्रेजी भाषण का प्रस्तुत अनुवाद श्री पं. जगदीशप्रसादजी व्यास, एम. ए., प्राध्यापक, स्पेन्स ट्रेनिंग कालेज, जबलपुर, ने किया है। मूल भाषण का ओज तथा भाव ज्यों का त्यों रखने में वे सफल हुए हैं। उनके इस कार्य के लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

हमें आशा है, इस पुस्तक से जनता का अवश्य लाभ होगा

नागपुर, **प्रकाशक**

दि० १-७-१९५०
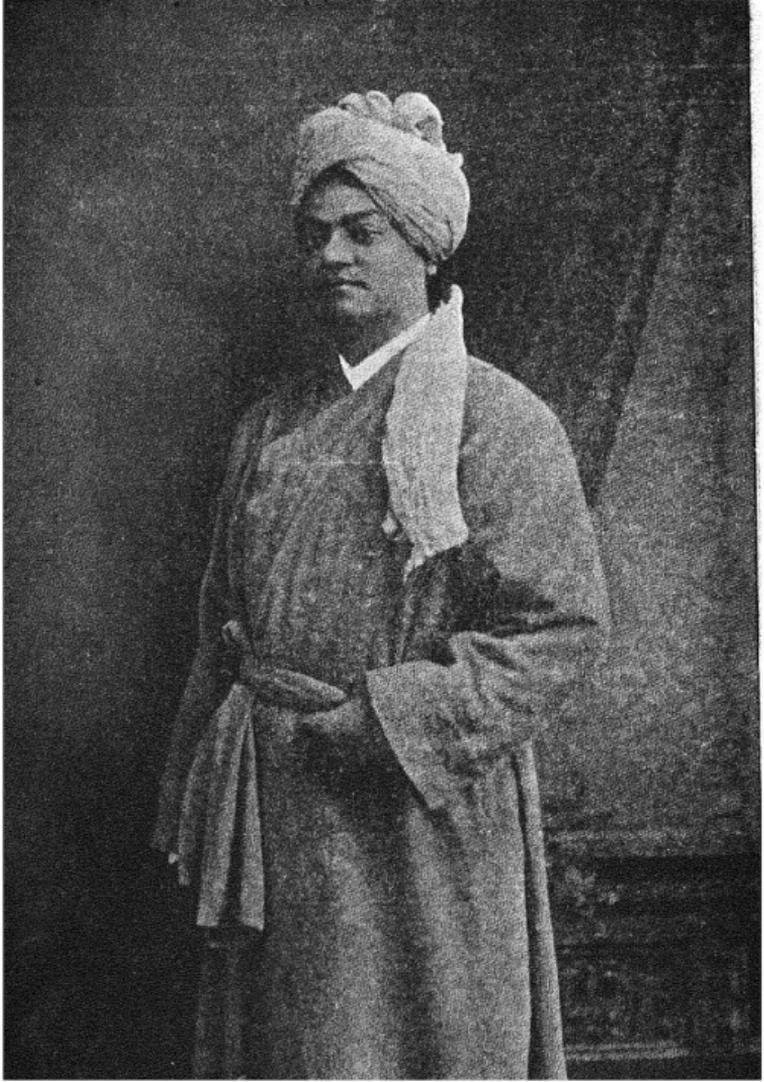
स्वामी विवेकानन्द

मेरा जीवन तथा ध्येय

देवियो और सज्जनो! आज प्रातःकाल का विषय वेदान्त दर्शन था, किन्तु मनोरंजक होते हुए भी यह विषय अधिक विशाल और कुछ रूखा सा है।

अभी अभी आपके अध्यक्ष महोदय एवं अन्य देवियों और सज्जनों ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं अपने कार्य के बारे में उनसे कुछ निवेदन करूँ। यह आप लोगों में से कुछ को तो रुचिकर भी जान पड़े, किन्तु जहाँ तक मेरी बात है मुझे इसमें कुछ विशेष रस नहीं। सच पूछिये तो मैं स्वयँ उलझन में हूँ कि उसे किस प्रकार वर्णन करूँ, क्योंकि अपने जीवन में इस विषय पर बोलने का यह मेरा पहिला ही अवसर है।

अपने कार्य का अंकन करने के लिए, जो कुछ भी मैं अपने अल्पाति-अल्प स्वरूप में कर सक रहा हूँ, मैं चाहूँगा कि आपको कल्पना द्वारा भारतवर्ष ले चलूँ। समय का अभाव है, विषय के अनेकों अंग-उपांग हैं, और एक विदेशी जाति की गहनताओं का विश्लेषण है। सभी प्रकार की कठिनाइयाँ तो हैं, तो भी इतना अवश्य सोचता हूँ, कम से कम इतना अवश्य बता सकूँ कि भारत सचमुच कैसा देश है।

भारत एक ऐसी विशाल इमारत की नाईं है जो एकाएक ढा दी गई हो, पहिले देखने पर जिसके जीर्णोद्धार की कोई आशा-किरण न हो। वह एक बीते हुए राष्ट्र का भग्नावशेष है। पर थोड़ा और रुकिये, रुक कर देखिये, जान पड़ेगा कि इन खंडहरों के अन्तराल में कुछ और भी महत्वशाली चीजें हैं। सत्य यह है कि वह तत्त्व, वह आदर्श, मनुष्य जिसकी बाह्य व्यंजना मात्र है, जब तक कुण्ठित अथवा नष्ट भ्रष्ट नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य भी निर्जीव नहीं होता, तब तक उसके जीर्णोद्धार की आशा भी अस्त नहीं होती। यदि आपके कोट को कोई बीसियों बार चुरा लेवे, तो क्या उससे आपका अस्तित्व भी शेष हो जावेगा? आप नवीन कोट बनवा लेंगे ——कोट आपका अनिवार्य अंग नहीं। सारांश यह कि यदि किसी धनी व्यक्ति की चोरी हो जावे तो उसकी जीवनी-शक्ति का अन्त तो हो नहीं जाता, उसे निष्प्राण तो नहीं कहा जा सकता। मनुष्य तो जीता ही रहेगा।

इस सिद्धान्त के आधार पर खड़े होकर आइये हम अवलोकन करें और देखें——आज भारत राजनैतिक शक्ति नहीं——आज भारत दासता में बँधी हुई एक जाति है। भारतीयों की अपने शासन में कोई पूछ नहीं, उनका कोई स्थान नहीं——वे हैं केवल ३० करोड़ गुलाम——दास और कुछ नहीं। भारतवासी की औसत आय डेढ़ रुपिया प्रति मास है। अधिकांश समुदाय की जीवन-चर्या उपवासों की कहानी है, और जरासी आय कम हो जावे तो लाखों काल के कवल क्षण में

बन जाते हैं। थोड़ा सा अकाल, मृत्यु की भयानक विभीषिका बन बैठता हैं। इसलिए जब मेरी दृष्टि उस ओर जाती है, तो मुझे दीख पड़ती है निराशा, सर्वनाश और बेबसी।

पर हमें यह भी विदित है कि हिन्दू जाति कभी भी धन के पीछे नहीं पड़ी। धन उन्हें खूब प्राप्त हुआ यह बात अलग है—अनेकों राष्ट्रों से कहीं अधिक धन—पर हिन्दू जाति धन के पीछे तो कभी भी नहीं लगी। युगों तक भारत शक्तिशाली बना रहा, पर तो भी शक्ति उसका आदर्श नहीं बना, कभी उसने अपनी शक्ति का उपयोग अपने देश के बाहर जा किसी पर विजय प्राप्त करने में नहीं किया। अपनी सीमाओं से सन्तुष्ट रहकर कभी भी उसने किसी से युद्ध नहीं किया, कभी भी साम्राज्यशाही की यश-लोलुपता का वह शिकार नहीं हुआ, धन और शक्ति उस जाति की कभी भी प्रेरणा न बन सके।

तो फिर? उसका मार्ग उचित था अथवा अनुचित—यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं है—वरन् बात यह है कि यही एक ऐसा राष्ट्र है, मानववंशों में यही एक ऐसी जाति है जिसने श्रद्धापूर्वक सदैव यही विश्वास किया कि यह जीवन वास्तविक नहीं, यह जीवन सत्य नहीं। सत्य तो परमात्मा है, वास्तविक तो प्रभु हैं और इसलिए दुःख और सुख में उसी से हमारी लगन बढ़े। अपने ह्रास के इतिहास में उसने धर्म को प्रथम स्थान दिया है। हिन्दू का खाना धार्मिक, उसका पीना धार्मिक, उसकी नींद धार्मिक, उसकी चालढाल धार्मिक, उसके

विवाहादिक धार्मिक, यहाँ तक कि उसकी चोरी करने की प्रेरणा भी धार्मिक है।

अन्यत्र भी देखा है क्या आपने ऐसा देश? आपको यदि जरूरत है एक डाकुओं के गिरोह की, तो उसके नेता को आप देखें—कैसे वह एक धार्मिक तत्त्व लेकर उसका प्रचार करता है, उसकी कुछ खोखली सी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रचता है और फिर उद्घोष करता है कि परमात्मा तक पहुँचने का यही सबसे सुस्पष्ट और शीघ्रगामी मार्ग है। तब उसके अनुचर बन जाते हैं—अन्यथा नहीं। इसका बस एक ही कारण है और वह यह है कि इस जाति की सजीवता, इस देश की प्रेरणा धर्म है और क्योंकि धर्म पर अभी आघात नहीं हुआ, यह जाति जीवित है, यह देश निष्प्राण नहीं।

रोम की ओर देखिये—रोम की प्रेरणा थी साम्राज्यलिप्सा—शक्ति-विस्तार। और ज्योंही उस पर ज़रा सा आघात हुआ नहीं कि हो गये टूक टूक—रोम छिन्न भिन्न हो गया, विलीन हो गया। यूनान की प्रेरणा थी बुद्धि—ज्योंही उस पर आघात हुआ नहीं कि यूनान की इतिश्री हो गई। और वर्तमान युग में स्पेन इत्यादि समान वर्तमान देश—इनका भी यही हाल हुआ। हरएक राष्ट्र का विश्व के लिए एक संदेश होता है, उसके लिए एक प्रेरणा होती है—जब तक वह संदेश आक्रान्त नहीं होता तब तक वह राष्ट्र जीवित रहता है—चाहे जो संकट क्यों न आवे। पर ज्योंही वह प्रेरणा नष्ट हुई कि राष्ट्र भी ढह जाता है।

पर हाँ—भारत की वह सजग सजीवता अभी भी आक्रान्त नहीं हुई। उसे उन्होंने अभी तजा नहीं, अभी वह बलशाली है—अन्ध-विश्वासों के बावजूद। भयानक अन्ध-विश्वास हैं वे, जघन्य एवं घृणास्पद अवश्य—चिन्ता नहीं कीजिये उनकी—राष्ट्रिय प्राणशक्ति तो अभी भी जीवित है—जाति की प्रेरणा और उसका पथ अभी मरा नहीं।

भारतीय राष्ट्र कभी भी बलशाली, दूसरों को पराजित करने वाला राष्ट्र बनेगा नहीं—कभी भी नहीं। यह कभी भी एक राजनैतिक शक्ति न बन सकेगा; ऐसी शक्ति बनना उसका व्यवसाय ही नहीं—राष्ट्रों की संगीत-लहरी में भारत इस प्रकार का स्वर कभी गा ही नहीं सकेगा। पर आखिर भारत का स्वर होगा क्या? वह स्वर होगा ईश्वर का, परमात्मा का। और मृत्यु की नाईं भारत उससे चिपटा हुआ है। तो भी उसमें अभी आशा है।

अत: इस व्याख्या के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता ही है कि इन तमाम विभीषिकाओं के बावजूद भी—इन सारे दैन्य-दारिद्र्य और दु:ख के रहते हुए भी इनका महत्व नहीं—भारत-पुरुष अभी भी जीवित है—और इसलिए अभी भी उसकी आशा है।

अस्तु, सारे देश में दिखाई पड़ेगा आपको धार्मिक आंदोलनों का बाहुल्य। मुझे ऐसा एक भी वर्ष स्मरण नहीं जिस वर्ष कि भारत में अनेक नवीन सम्प्रदाय उत्पन्न न हुए हों। जितनी ही उद्दाम धारा होगी उतन ही उसमें भँवर और चक्र उत्पन्न होंगे—यह स्वाभाविक

है। इन सम्प्रदायों को ह्रास का सूचक नहीं समझा जा सकता, ये तो जीवन की निशानी हैं। होने दीजिये इन सम्प्रदायों की संख्या में वृद्धि—इतनी वृद्धि कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति ही एक सम्प्रदाय हो जावे, हरएक व्यक्ति। इस विषय को लेकर कलह करने की आवश्यकता ही क्या है।

आप अपने देश को लीजिये (किसी नुक्ताचीनी के ख्याल से नहीं), आपके सारे सामाजिक नियम-कानून, यहाँ की राजनैतिक संस्था, यहाँ की हरएक चीज़ का निर्माण, सब इसी ध्यान से बने हैं कि मानव की इह-लौकिक यात्रा सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जावे। जब तक वह जीवित है तब तक खूब सुख-चैन से जीवन-यापन करे। अपने राजमार्गों की ओर देखिये, कितने स्वच्छ हैं वे सब! आपके सौन्दर्यशाली नगर! और इसके अतिरिक्त वे तमाम साधन जिनसे धन को निरन्तर द्विगुणित किया जाता है। कितने ही जीवन के सुखोपभोग करने के रास्ते! पर यदि आपके देश में कोई व्यक्ति इस वृक्ष के नीचे बैठ जावे और कहने लगे कि मैं तो यहीं पर आसन मारकर ध्यान लगाऊँगा, परिश्रम न करूँगा, तो मुझे विश्वास है आप उसे कारागृह भेज देवेंगे। उसके लिए जीवन में कोई स्थान नहीं, कोई अवसर नहीं, कुछ भी नहीं। मनुष्य तभी इस समाज में रह सकता है जब कि वह समाज की पाँत में एकरस होकर काम किया करे। आनन्दोपभोग की इस घुड़दौड़ में हरएक आदमी को हिस्सा बँटाना पड़ता है, उसकी अच्छाइयों को चखना ही उसका पेशा है—यदि न हो तो उसे जीवित रहना दुष्कर हो जावे।

अब ज़रा भारत की ओर चलिए। वहाँ यदि कोई व्यक्ति कहे कि मैं इस पहाड़ की चोटी पर समाधि लगा, त्राटक बाँधकर अपने शेष जीवन को समाप्त कर देना चाहता हूँ—तो हर आदमी उसे आशीर्वाद देकर कामना करेगा कि दैव उसका सहायक हो! उसे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। किसी ने उसे कपड़ा ला दिया और वह सन्तुष्ट हो गया। पर यदि कोई व्यक्ति आकर कहे कि 'देखिये, मैं इस जिन्दगी के कुछ ऐशो आराम लूटना चाहता हूँ' तो शायद उसके लिए सब द्वार बंद ही मिलेंगे।

मेरा तो मत है कि दोनों देशों की धारणायें भ्रमात्मक हैं। मुझे कोई कारण नहीं दिखता कि जिसके कारण व्यक्ति यहाँ आसन लगाकर त्राटक बाँधे तब तक बैठा रहे जब तक कि उसकी इच्छा हो। क्यों वह भी वही बातें करता रहे जो अधिकांश जन-समुदाय किया करता है? मुझे तो कोई उचित कारण दिखाई देता नहीं।

उसी प्रकार मुझे समझ में नहीं आता कि भारत में क्यों मानव इस जीवन की सामग्रियाँ न पावे, धनोपार्जन न करे? पर देखिये आप कि किस प्रकार करोड़ों के दिमागों में जबरदस्ती यह विश्वास लादा जाता है कि इसके विपरीत की ही धारणा सच्ची है। वहाँ के साधुओं ने यही जबरदस्ती कर डाली है! यह जबरदस्ती है महात्माओं की, यह जबरदस्ती है अध्यात्मवादियों की, यह जबरदस्ती है बुद्धिवादियों की, यह जोर जबर है पण्डितों का। जब पण्डित और ज्ञानवान अपने मतों को औरों पर लादने का व्यवसाय प्रारम्भ कर देते हैं तो

वे हजारों और लाखों उपाय सोच लेते हैं। अज्ञानियों और भोले-भालों के ऊपर ऐसी बंदिशें लग जाती हैं कि जिन्हें वे बेचारे तोड़ नहीं पाते।

मैं अब कहना यह चाहता हूँ कि इसे एकदम रोक दिया जावे। हजारों और लाखों का होम करके एक, बस एक बड़ा आध्यात्मिक दिग्गज पैदा किया जावे——क्या अर्थ है इस बकवाद का? यदि हम ऐसा समाज निर्माण करें जिसमें एक ऐसा आध्यात्मिक दिग्गज भी हो और सारे अन्य लोग भी सुखी होवें तो वह ठीक है, पर अगर करोड़ों को पीसकर एक ऐसा दिग्गज बनाया तो सरासर अन्याय ही हुआ। अधिक उचित तो यह होगा कि सारे संसार के कल्याण के लिए एक व्यक्ति दुख दर्द सहे।

हर राष्ट्र में यदि आपको कुछ कार्य करना है तो उसी राष्ट्र की रीति-विधियों को अपनाना होगा। हर आदमी को उसी की भाषा में बोलना होगा। अगर आपको अमेरिका या इंग्लैण्ड में धर्म की बात का संदेशा देना है तो आपको राजनैतिक रीति-विधियों को स्वीकार करना ही होगा——संस्थाएँ बनानी होंगी, समितियाँ गढ़नी होंगी, वोट देने की व्यवस्था करनी होगी, बैलेट के डिब्बे बनाने होंगे, सभापति चुनना होगा——इत्यादि सारी खुराफ़ात गढ़नी होंगी——और वह इसलिए कि पाश्चात्य जातियों के समझ में यही रीति-विधि आती है, उन्हें यही भाषा समझ आती है। पर यहाँ भारत में यदि आपको राजनीति की ही बात कहनी है तो धर्म की भाषा को माध्यम बनाना होगा। कुछ

नीचे लिखी जैसी भाषा में आप बोलेंगे—"जो आदमी प्रतिदिन सबेरे अपना घर साफ करता है, उसे इतना पुण्य प्राप्त होता है, उसे मरने पर स्वर्ग मिलता है, वह भगवान में लीन हो जाता है।" जब तक आप इस प्रकार उनसे न कहें, वे आपकी बात समझेंगे ही नहीं। यह प्रश्न केवल भाषा भर का है। बात जो की जाती है वह तो एक ही है। हर जाति के साथ यही बात है—जिस जाति के हृदय को आप स्पर्श करना चाहते हैं, उन्हीं की भाषा में उनसे व्यवहार करें। और यह ठीक भी है, हमें इसमें बुरा न मानना चाहिये।

जिस सम्प्रदाय में मैं सम्मिलित हूँ उसे संन्यासी की संज्ञा दी जाती है। इस शब्द का अर्थ है—'विरक्त'—संसार जिसने छोड़ दिया हो। यह सम्प्रदाय बहुत बहुत प्राचीन, चिर-प्राचीन है। गौतम बुद्ध जो ईसा के ५६० वर्ष पूर्व आविर्भूत हुए, वे भी इसी सम्प्रदाय में थे। वे इसके सुधारक मात्र थे—बस, इतना प्राचीन है वह।

संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद में भी इसका उल्लेख है। प्राचीन भारत का यह नियम था कि प्रत्येक पुरुष और स्त्री अपने जीवन की संध्या के लगभग सामाजिक जीवन को त्यागकर केवल अपने मोक्ष और परमात्मा मात्र के चिन्तन में संलग्न रहे। यह सब उस महान घटना का स्वागत करने की तैयारी है—जिसे मृत्यु कहते हैं। इसलिए उस प्राचीन युग में वृद्धजन संन्यासी हो जाया करते थे। बाद में युवकों ने भी संसार त्यागना आरम्भ किया—और युवकों में शक्ति-बाहुल्य रहता है, इसलिए वे एक

वृक्ष के नीचे बैठकर सदा सर्वदा अपनी मृत्यु के चिन्तन में ही ध्यान लगाये न रह सके, वे यहाँ वहाँ जाकर उपदेश देने और नये नये सम्प्रदायों का निर्माण करने लगे। इसलिए युवा बुद्ध ने वह महान सुधार आरम्भ किया। यदि वे जराजर्जरित होते तो बस नासाग्र दृष्टि रखकर अपना जीवन शेष कर देते।

यह सम्प्रदाय कोई गिरजा सम्प्रदाय नहीं और न इसके अनुयायी व्यक्ति कोई पुरोहित ही हैं। पुरोहितों और संन्यासियों में मौलिक भेद है। भारत के अन्य व्यवसायों की नाईं पुरोहिती भी सामाजिक जीवन का एक पैतृक व्यवसाय है। पुरोहित का पुत्र उसी प्रकार पुरोहित बन जाता है जिस प्रकार बढ़ई का पुत्र बढ़ई अथवा लुहार का बेटा लुहार। पुरोहित को विवाहसूत्र में भी बँधना पड़ता है। हिन्दू मस्तिष्क का मत है कि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा ही है। अविवाहित पुरुष को धार्मिक कृत्य करने का अधिकार नहीं।

संन्यासियों के पास कोई धन-जायदाद नहीं होती, वे अपना विवाह नहीं करते। उसके परे उनकी कोई व्यवस्था नहीं। एक मात्र बंधन जो उस पर व्यापता है वह है गुरु और शिष्य का आपसी सम्बन्ध---और कुछ नहीं---और यह भारत की अपनी निजी विशेषता है। गुरु कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो बस कहीं से आकर मुझे शिक्षा दे देता और उसके बदले में मैं उसे कुछ धन देता हूँ और बात खत्म हो जाती है। भारत में यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध वैसी ही प्रथा है जैसा पुत्र का गोद में लेना। गुरु पिता

से भी बढ़कर है—और मैं सचमुच गुरु का पुत्र हूँ—हर तरह से उसका पुत्र। पिता से भी बढ़कर मैं उनकी आज्ञा का अनुचर हूँ, उनसे बढ़कर वे मेरे सम्मान्य हैं—और वह इसलिए कि जहाँ मेरे पिता ने मुझे केवल यह शरीर मात्र दिया, मेरे गुरु ने मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया और इसलिए वे इनसे बढ़कर हैं। मेरा अपने गुरु के प्रति यह सम्मान जीवन-व्यापी होता है, मेरा प्रेम चिरजीवी होता है। बस एक मात्र यही सम्बन्ध है जो बच रहता है—मैं इसी प्रकार अपने शिष्यों को ग्रहण करता हूँ। कभी कभी तो गुरु एकदम नवयुवक होता है और शिष्य कहीं अधिक बूढ़ा—पर चिन्ता नहीं, बूढ़ा पुत्र बनता है और मुझे 'पिता' से सम्बोधन करता है और मुझे उसे पुत्र अथवा पुत्री कहकर पुकारना पड़ता है।

एक समय की बात है कि मुझे एक बड़े विचित्र से वृद्ध शिक्षक मिले—बिलकुल विचित्र। उन महाशय को बौद्धिक पाण्डित्य में कुछ चाव न था, क्वचित् ही वे पुस्तकें देखते या उनका मनन करते। पर जब वह कम उम्र के ही थे तभी उनके मन में सत्य को सीधा खोज लेने की समा गई—बड़ी उग्र आकांक्षा—और इसलिए पहिले पहल उन्होंने अपने ही धर्म पर प्रयोग किया। फिर उनके मन में आया कि नहीं और धर्मों के सत्य को पाया जाये—और इस उद्देश्य से एक के बाद एक धर्मों का वे अनुष्ठान करते चले। कुछ समय तक तो जो कुछ उनसे कहा जाता वे उसे ध्यानपूर्वक करते—और तब तक उस सम्प्रदायविशेष में रहे आते जब तक

कि उस सम्प्रदाय की धाराविशेष से अनुप्राणित न हो जाते। और इस तरह दूसरे सम्प्रदाय में जाकर भरती हो जाते। इस तरह जब सारे सम्प्रदाय समाप्त हो गये तो उन्हें यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि ये सब के सब सम्प्रदाय ठीक हैं। किसी में भी वे दोष न देख सके, हर सम्प्रदाय एक ऐसा मार्ग था जिससे लोग एक निश्चित केन्द्र पर ही पहुँचते। और तब उन्होंने घोषणा की, "कितने यश की बात है यह कि यहाँ इतने अधिक पंथ बन आये हैं, क्योंकि यदि केवल एक ही पंथ होता तो शायद वह केवल एक ही व्यक्ति को सुविधाजनक होता। इतने अधिक पंथ होने से हरएक व्यक्ति को 'सत्य' तक पहुँच सकने का अधिक से अधिक अवसर सुलभ्य है। यदि मैं एक भाषा के माध्यम से नहीं सीख सकता, तो मुझे दूसरी भाषा अजमाना चाहिये।" और इसी प्रकार—इस तरह उन्होंने प्रत्येक धर्म को आशीष दी।

मैं जिन विचारों का संदेश देना चाहता हूँ वे सब उनके विचारों को प्रतिध्वनित करने की मेरी अपनी चेष्टा मात्र है। इसमें मेरा अपना निजी कोई भी मौलिक विचार नहीं, हाँ जो कुछ असत्य अथवा बुरा है वह चाहे भले मेरा ही हो। पर हर ऐसा शब्द जिसे मैं आपके सामने कहता हूँ और जो सत्य एवं अच्छा है, केवल उनकी वाणी को झंकार देने का प्रयत्न मात्र है। प्रोफेसर मैक्समूलर द्वारा लिखित उनके जीवन-चरित्र को पढ़िये आप।

बस उन्हीं के चरणों में मुझे ये विचार प्राप्त हुए। मेरे साथ

और भी अनेक नवयुवक थे। मैं केवल बालक ही था। मेरी उम्र रही होगी सोलह वर्ष की, कुछ और तो मुझसे भी छोटे थे——पर कुछ बड़े भी थे——लगभग एक दर्जन रहे होंगे वे सब। और हम सबने बैठकर यह निश्चय किया की हमें इस आदर्श का प्रसार करना है। और चल पड़े हम लोग——न केवल उस आदर्श के प्रसार करने के लिए, वरंच उसे और भी व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए। तात्पर्य यह हुआ कि हमें बतलाना चाहिये हिन्दुओं की आध्यात्मिकता, बौद्धों की जीव-दया, ईसाइयों की क्रियाशीलता, मुस्लिमों का बन्धुत्व,——और ये सब अपने व्यावहारिक जीवन के माध्यम द्वारा। "हम एक सार्वभौम धर्म का निर्माण करेंगे——अभी और यहाँ, हम रुकेंगे नहीं।"

हमारे गुरु एक वृद्धजन थे जो द्रव्य की एक मुद्रा भी कभी हाथ से न छूते थे। बस जो कुछ थोड़ा सा भोजन दिया उसे ही ले लिया, कुछ गज कपड़ा और कुछ नहीं। उन्हें और कुछ स्वीकार करने के लिए कोई प्रेरित ही न कर पाता। इन तमाम अनोखे विचारों से युक्त होने पर भी वे बड़े तंत्रनिष्ठ थे——क्योंकि इसीने उन्हें स्वतंत्र बनाया था। भारत का संन्यासी आज राजा का भी मित्र है, उसके साथ भी भोजन करता है तो कल वह भिखारी के साथ है और तरु तले भी सो जाता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति से संपर्क स्थापित करना है, उसे सदैव चलते ही रहना है। कहते हैं——लुढ़कते पत्थर पर काई कहाँ? अपने जीवन के गत चौदह वर्षों में कभी भी मैं एक

स्थान पर एक साथ तीन माह से अधिक रुका नहीं,—सदा भ्रमण ही करता रहा—हम सब के सब यही करते हैं।

युवाओं के इस छोटे से गुट्ट ने इन विचारों को अपनाया, और स्वीकार किये वे तमाम व्यावहारिकतापूर्ण सिद्धान्त जो उनसे उद्भूत हुए। सार्वभौमिक धर्म, दीनों से सहानुभूति और ऐसी ही बातें जो सिद्धान्ततः तो बड़ी अच्छी हैं पर जिन्हें चरितार्थ करना आवश्यक था, उसी का बीड़ा इन्होंने उठाया।

तब एक दिन वह दुःखपूर्ण घटना घटी : हमारे वृद्ध गुरुदेव की महासमाधि हुई। हमसे जितनी बनी, हमने उनकी सेवाशुश्रूषा की, हमारे कोई मित्र न थे—हमें सुनता भी कौन—कुछ विचित्र सी विचार-धारा को लिये हुए छोकरे जो थे न? कोई भी नहीं। कम से कम भारत में तो छोकरों की वक़त नहीं। ज़रा सोचिये—बारह लड़के लोगों को सुनावें बड़ी बड़ी बातें, बड़े बड़े सिद्धान्त और यह शेखी हाँके कि वे इन विचारों को जीवन में चरितार्थ, साक्षात् करेंगे। हाँ, सभी ने हँसी की, हँसी करते करते वे गम्भीर हो गये—हमारे पीछे पड़ गये—उत्पीड़न करने लगे। बालकों के माता-पिता हमें क्रोध से धिक्कारने लगे, और ज्यों ज्यों लोगों ने हमारी खिल्ली उड़ाई त्यों त्यों हम और भी दृढ़ होते गये।

तब इसके बाद एक बड़ी ही मुसीबत का समय आया, मुझ पर भी और मेरे अन्य बालक मित्रों पर भी। पर मुझ पर तो और भी

भीषण दुर्भाग्य छा गया था ! एक ओर थे मेरी माता और भ्रातागण। मेरे पिताजी का अवसान हो गया और हम लोग असहाय निर्धन रह गये, इतने निर्धन और गरीब कि हमेशा फाँकाकशी की नौबत आ गई। कुटुम्ब की एकमात्र आशा मैं था जो थोड़ा कमाकर कुछ सहायता पहुँचा सकता। मैं दो दुनियाओं की संधि पर खड़ा था। एक ओर मेरी माता और भाइयों के भूख से तड़फ तड़फकर मरने का दृश्य और दूसरी ओर थे इन महान् पुरुष के विचार जिनसे—मेरा ख्याल था—भारत का नहीं सारे विश्व का कल्याण हो सकता—और इसलिए जिनका चार करना, जिन्हें कार्यान्वित करना अनिवार्य था। इस तरह मेरा मन महीनों इस दुविधा के संघर्ष में पिसता रहा। कभी तो मैं छः-छः, सात-सात दिन और रात निरन्तर प्रार्थना करता रहता। कैसी वेदना थी वह ! मानो मैं जीवित ही नरक में था। कुटुम्ब के नैसर्गिक बंधन और मोह मुझे अपनी ओर खींच रहे थे—मेरा बाल्य-हृदय भला कैसे अपने इतने सगों का दर्द देखते रहता ? यहाँ दूसरी ओर किसी से सहानुभूति तक तो प्राप्य नहीं थी ! सच ही, बालक की कल्पनाओं से सहानुभूति करता भी कौन, ऐसी कल्पनाएँ जिनसे औरों को तकलीफ ही होती ?—मुझसे किसकी हमदर्दी होती ?—किसी की नहीं—किसी की नहीं—नहीं—सिवाय एक के।

उस एक की हमदर्दी ने मुझे आशीष दी मुझमें आशा जगाई। वह स्त्री थी। हमारे गुरुदेव—ये महासंन्यासी—बाल्यावस्था

में ही विवाहित हो गये थे। युवा होने पर जब उनकी धर्मप्रवणता अपनी चरम सीमा पर थी, वे आये एक रोज अपनी पत्नी को देखने। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के उपरान्त युवावस्था तक उन्हें परस्पर मेल-मिलाप करने का अवसर क्वचित ही मिला। पर जब वे बड़े हो चुके तो आये एक रोज अपनी पत्नी के पास, और बोले "देखो, मैं हूँ तुम्हारा पति, इस देह पर तुम्हारा अधिकार है। पर मैं कामुक जीवन को तो गले लगा नहीं सकता—भले ही मैंने तुमसे ब्याह कर लिया हो। मैं अब सब कुछ तुम्हारे फैसले पर छोड़ता हूँ।" आँखों में आँसू ला वे बोलीं, "प्रभु तुम्हें आशीष दें। क्या तुम्हारी यह धारणा है कि मैं तुम्हें अधःपतित करने वाली स्त्री हूँ? बन सके तो मैं तुम्हारी सहाय्य ही हो सकूँ। जाओ, अपना कार्य करो।"

ऐसी स्त्री थीं वह! पति अग्रसर होते गये और अन्त में संन्यासी बन गए—अपनी राह पर बढ़ते गए—और यहाँ पत्नी अपने ही स्थान से उन्हें सहायता पहुँचाती रही, जहाँ तक बन सका वहाँ तक। और बाद में जब वह पुरुष आध्यात्मिक दिग्गज बन गए तब वे आईं। सचमुच में वे ही उनकी प्रथम शिष्या हुईं—और उन्होंने अपना शेष जीवन इनकी देह की सुरक्षा और सेवा करने में बिताया। उन्हें तो कभी यह पता भी न चला कि वे जीवित हैं, मृत हैं अथवा कुछ और हैं। बोलते बोलते कई बार तो ऐसे भावाविष्ट हो जाते कि जलते अंगारों पर बैठने पर भी उन्हें कोई ख्याल न होता! हाँ, जलते अँगारों पर!! अपने अंग की ऐसी सुधि उन्हें भूल जाती।

तो वह ही एक ऐसी देवी थीं जिसे उन बालकों की विचार-धारा से कुछ सहानुभूति थी,—पर उनके पास शक्ति ही क्या थी, वे तो हम लोगों से भी निर्धन थीं। पर चिन्ता नहीं—हम लोग तो धारा में कूद पड़े थे। मेरा विश्वास हो गया था कि इन विचारों से भारत अधिक ज्ञानोद्भासित हो जावेगा और भारत के सिवाय और भी अनेक देशों और जातियों का उससे कल्याण हो सकेगा। तभी यह अनुभव हुआ कि इन विचारों का नाश होने देने के बदले तो यही कहीं श्रेयस्कर है कि कुछ मुट्ठी भर लोग स्वयं अपने को मिटाते रहें! क्या बिगड़ जावेगा यदि एक माँ न रही, यदि दो भाई मर गये तो? यह तो बलिदान है, उसे तो करना ही होगा। बिना बलिदान के कोई भी महत् कार्य सिद्ध हो ही नहीं सकता। कलेजे को अब बाहर निकालना है और निकाल कर अब पूजा की वेदी पर उसे लहूलुहान चढ़ा भी देना है। तभी कुछ अच्छी बातें बन सकेंगी। और भी कोई दूसरा मार्ग है क्या? अभी तक तो किसी को मिला नहीं। मैं आप तमाम साधकों से भी यही प्रश्न करता हूं। कितना मूल्य चुकाना पड़ा है उसका? कैसी वेदना—कैसी पीड़ा—प्रत्येक सफल क्रिया के पीछे कैसी भयानक पीड़ा की कहानी है—हर जीवन में—आप तो उसे जानते हैं, आपमें से प्रत्येक व्यक्ति।

और बस इसी तरह हम लोग, हम बालकों का समूह चलता गया—बढ़ता गया। हमारे निकट के लोगों ने चारों

ओर से हमें जो दिया वे थीं गालियाँ ओर ठोकरें भर। द्वार द्वार पर हमें भोजन की भिक्षा माँगनी पड़ी, कहीं हमें दुत्कार मिली तो कहीं घुड़की—किस्सा यह कि सब अनापशनाप ही हमें दिया गया। यहाँ एक टुकड़ा मिला तो वहाँ दूसरा मिल गया। हमें एक घर भी मिल गया—टूटा फूटा, खण्डहर, जिसमें रहते हों खिसियाये हुए नाग—पर हमें उसे लेना ही पड़ा—सबसे सस्ता जो था न—हम उसमें गये और जाकर रहे भी उसके भीतर।

इस तरह कुछ वर्ष काटे—सारे भारत का भ्रमण किया—यही कोशिश की कि हमारे विचार और आदर्श को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त हो जाय। दस वर्ष हो गए—प्रकाश की किरण न दिखी—और दस वर्ष: हजारों बार निराशा छा गई—। इस पर भी एक कमी बनी रही....और वह थी हम लोगों का उत्कट पारस्परिक सहयोग.... हमारा आपसी प्रेम। मेरे साथ लगभग सौ साथी होगए—स्त्री पुरुष.... वे ऐसे थे कि यदि मैं एक बार शैतान भी बन जाता तो भी वे ढाढ़स बाँधकर कहते 'अरे अभी हम हैं....हम तुम्हें कभी भी न छोड़ेंगे!' और सचमुच यह बड़ा सौभाग्य है। सुख में, दु:ख में, अकाल में, दर्द में, कब्र में, स्वर्ग में, नर्क में जो मेरा साथ न छोड़े⋯सचमुच वही मेरा मित्र है। ऐसी मैत्री क्या हँसी मजाक है? ऐसी मैत्री से तो मानव को मोक्ष तक मिल सकता है। सचमुच मोक्ष ऐसा ही प्रेम करने से आता है। यदि ऐसी भक्ति आजावे तो वही सारी ध्यान-धारणाओं का सार है। आपको किसी देवता का पूजन करने की जरूरत नहीं,

यदि इस दुनिया में आपमें वह भक्ति है, वह श्रद्धा है, वह शक्ति है, वह प्रेम है। और उस मुसीबत के युग में यही चीजें हम सबमें परम भाग्य से थीं, और इसी के बल पर हिमालय से केप कामोरिन, सिन्धु से ब्रह्मपुत्रा तक हमने एक कर दिया।

इन युवकों का समूह भ्रमण करता रहा। शनैःशनैः लोगों का ध्यान हमारी ओर खिंचा; ९० प्रतिशत उसमें विरोधी थे, बहुत ही अल्पांश सहायक था। हम लोगों की एक सबसे बड़ी कमी थी और वह यह कि हम सब युवा थे, हम सब निर्धन थे और युवकों की सारी ऊबड़-खाबड़ता हममें मौजूद थी। जिसको जीवन में खुद अपनी राह बना कर चलना पड़ता है, थोड़ा ऊबड़-खाबड़ हो ही जाता है, उसे बड़ा कोमल, बड़ा नम्र और बड़ा मिष्टभाषी बनने का अवकाश ही कहाँ प्राप्य है, "मेरे सज्जनो, मेरी देवियो" इत्यादि सम्बोधनों का उसे अवसर कहाँ? जीवन में आपने सदैव दस चीज़ों को देखा होगा। वह तो एक खुरदरा हीरा है, उसमें चिकनी पालिश नहीं, वह एक ऐसा मोती है जिसकी डिबिया अपनी निराली डिबिया है।

जो हो, तो हम लोग ऐसे थे—"समझौता न करेंगे" यही हमारा आदर्श था, हम उसे चरितार्थ करके दिखावेंगे। हमें राजा भी मिल जावे और हमें प्राणदण्ड भी दिया जावे तो भी हम उससे अपनी बात कहे बिना न रहेंगे, और कृषक मिला तो उससे भी यही कहेंगे।

पर ध्यान रखिये कि जीवन का यही अनुभव है। यदि सचमुच आप परहित पर कटिबद्ध हैं तो सारा ब्रह्माण्ड आपका विरोध करे, आपका बाल भी बाँका न होगा। आपके अन्तर में निहित परमात्मा की शक्ति के समक्ष, यदि आप निःस्वार्थ और हृदय के सच्चे हैं तो यह सारी विघ्न-बाधाएँ क्षार क्षार हो जावेंगी। वे युवक बस ऐसे ही थे। प्रकृति की गोद से वे पवित्रता, ताजगी लिये हुए बालकों के रूप में प्रस्तुत थे। हमारे गुरुदेव ने कहा, "मैं प्रभु की वेदी पर उन्हीं फूलों को चढ़ाना चाहता हूँ, जिनकी सुगंध अभी तक किसी ने नहीं ली, जिन्हें अपनी उंगलियों से किसी ने स्पर्श नहीं किया।" उस महात्मा के ये शब्द हमें जीवन देते रहे, उन्होंने कलकत्ता की गलियों से समेटे हुए इन बालकों के जीवन की सारी भावी रूप-रेखा देख ली थी। लोग उन्हें हँसते थे, जब वे कहते थे—"देखना इस लड़के को, उस लड़के को—क्या कर डालेगा वह?" इत्यादि, पर उनकी आस्था और विश्वास अडिग थे। कहते थे, "यह तो मुझसे माँ ने कहा है, मैं निर्बल हूँ सही, पर जब वह ऐसा ही कहती हैं,—तब तो भूल हो नहीं सकती—अवश्य वह सच्ची है।"

इस तरह काम चलता रहा, दस साल बीत गए, प्रकाश न मिला। यहाँ स्वास्थ्य दिन पर दिन क्षीण होता रहा। शरीर पर इसका असर अन्ततः हुए बिना रह नहीं सकता। कभी रात के नौ बजे एक बार खा लिया, तो कभी सबेरे आठ बजे ही एक बार खाकर रह गए, तो दूसरी बार दो रोज के बाद खाया—तीसरी बार

तीन रोज के बाद खाया--और हर बार नितान्त रूखा सूखा, शुष्क नीरस भोजन ! और अधिकांश समय में पैदल चलते, बर्फीले चोटियों पर चढ़ते, कभी कभी तो दस-दस मील के पहाड़ पर चढ़ते ही जाते---सिर्फ इसीलिए कि एक बार का भोजन मिल जावे। बताइये भला, भिखारी को कौन अपना अच्छा भोजन देता है ? सूखी रोटी ही भारत में उनका भोजन है और कई बार तो वे सूखी रोटियाँ बीस-बीस तीस-तीस रोजों तक इकट्ठी करके रख ली जाती हैं---और जब वे ईंट की नाईं मजबूत और कड़ी हो जाती हैं तब उनसे षड्रस व्यंजन का उपभोग सम्पन्न होता है। भोजन एक बार का पाने के लिए द्वार-द्वार भीख माँगते फिरना पड़े---तिस पर रोटी ऐसी कड़ी मिले कि खाते खाते मुँह से लहू बहने लगे। यथार्थ में रोटी के ऊपर तो आपके दाँत भी टूट सकते थे। जब बात ऐसी हो तो मैं रोटी को एक थाली में धर देता और उसमें नदी का पानी उड़ेलता। इस तरह महीनों गुजारने पड़े, मैं जीता रहा---और स्वास्थ्य यहाँ गिरता ही रहा।

तब मुझे ख्याल हुआ कि भारत को तो अब देख लिया---चलो अब किसी और देश को आजमाया जाय। उसी वक्त आपकी धर्मों की पार्लियामेण्ट भरी जाने वाली थी और वहाँ भारत से किसी को भेजना था। मैं तो एक खानाबदोश सा था, पर मैंने कहा, "यदि मुझे भेजा जावे तो मैं जाऊँगा। मेरा कुछ बिगड़ता नहीं है, क्योंकि बिगड़ने के लिए कुछ हो भी तो ? और अगर हो भी तो मुझे परवाह नहीं।" पैसा पा सकना बड़ा कठिन---पर बड़ी खींचतान

के बाद रुपया इकट्ठा हुआ और मेरे किराये मात्र का प्रबन्ध हुआ—मैं आ गया। दो-एक महीने अभी बाकी थे। मैं रास्तों पर यहाँ वहाँ भटकने लगा—न किसी से जान—न किसी से पहचान।

अन्त में धर्मों की पार्लियामेण्ट बैठी, मुझे बड़े सदय मित्र मिले जिन्होंने मुझे खूब मदद की। मैंने भी थोड़ासा परिश्रम किया, धन जमा किया और दो पत्र निकाले—इत्यादि। इसके बाद मैं इग्लैण्ड गया और वहाँ भी काम किया। साथ ही साथ अमेरिका में भी भारत के हित का कार्य मैं साधता रहा।

भारत विषयक मेरी योजना का जो विकास और केन्द्रीकरण हुआ, वह ऐसा है। मैं कह चुका हूँ कि संन्यासी लोग वहाँ किस प्रकार का जीवन-यापन करते हैं, द्वार-द्वार भीख माँगने जाते और बिना किसी शुल्क के धर्म उन तक पहुँचाते हैं—बहुत हुआ तो बदले में एक रोटी का टुकड़ा ले लिया। यही कारण है कि भारत का अदने से अदना व्यक्ति भी धर्म की ऐसी उच्च प्रेरणाएँ अपने साथ रखता है। यह सब इन्हीं संन्यासियों की करामात है। आप उससे प्रश्न कीजिये "अँग्रेज लोग क्या हैं,"—उसे पता नहीं। शायद उत्तर मिल जावे, "ये उन राक्षसों की सन्तान हैं जिनका वर्णन उन ग्रन्थों में है। है न यही?" "आपका शासक कौन है?" "हमें पता नहीं"—"शासन क्या है?" "हमें पता नहीं"—पर तत्व-ज्ञान वे जानते हैं। जो उनकी असली कमजोरी है वह है इस पार्थिव जीवन के विषय की व्यावहारिक बौद्धिक शिक्षा का अभाव। ये कोटि

कोटि मानव इस संसार के परे के जीवन के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं—और यही उनके लिए क्या बड़ा संतोष नहीं?....नहीं कदापि नहीं....उन्हें इससे कहीं अच्छे रोटी के टुकड़े की ज़रूरत है....उनकी देह को इससे कहीं अच्छे कपड़े का टुकड़ा ढँके.... इस बात की आवश्यकता है। पर समस्या महान तो यही है कि यह अच्छा रोटी का टुकड़ा और अच्छा कपड़ा इन गये-बीते कोटि-कोटि मानवों को प्राप्त कहाँ से हो?

पहिले मैं आपसे कहूँ कि बड़ी आशा है अभी उन लोगों के लिए, क्योंकि देखिये वे संसार के सबसे अधिक नम्र व्यक्ति हैं—नम्र; कायर अथवा भीरु नहीं। जब उन्हें लड़ना होता है तो राक्षसों की भाँति लड़ते हैं। अंग्रेजों के उत्तमोत्तम सैनिक भारत की जनता से ही तो भर्ती किये गये। मौत की उनके सामने कोई कीमत नहीं। उनका तो मत है—"बीसियों बार तो मेरी मौत हो चुकी और सैकड़ों बार अभी मौत होनी है, इससे क्या?" पीछे हटना उन्हें याद नहीं—भावुकता के तो वे कायल नहीं, पर योद्धा वे उच्चतम कोटि के हैं।

स्वभाव से खेती उन्हें प्यारी है। आप उन्हें लूट लीजिये, आप उन्हें कत्ल कर दीजिए, आप उन पर कर लगा दीजिये, आप उनके साथ कुछ भी कर डालिये, पर आजाद रखिये उन्हें अपना धर्म-पालन करने के लिए—वे बड़े नम्र बने रहेंगे, बड़े ही शान्त और चुप। वे कभी औरों के धर्म से भिड़ेंगे नहीं। 'हमारे देवताओं की पूजा करने की

हमें स्वतंत्रता देकर हमसे और सब कुछ छीन लीजिए'—यही है उनका रुख। अंग्रेजों ने जब उस मर्म-स्थल को छुआ तो प्रारम्भ हो गया उपद्रव! सन् १८५७ की गदर का यही सच्चा कारण था: उन्हें धार्मिक दमन कभी भी सहन नहीं हुआ। मुसलिम सरकारें बस सिर्फ इसीलिए उड़ा दी गईं कि उन्होंने भारत के धर्म को छूने की धृष्टता की।

इसके सिवाय वे लोग बड़े शान्तिप्रिय, चुपचाप, नम्र और सबसे अधिक दुर्व्यसनों से दूर—एकदम दूर होते हैं, मादक पेय-पान के अभाव में सचमुच भारतीय लोग किसी भी देश की साधारण जनता से श्रेष्ठ हो गए। भारत के दरिद्रों के जीवन की उत्तमता की तुलना आप अपने देश की बस्तियों के जीवन से नहीं कर सकते। बस्ती का अर्थ निस्संदेह दरिद्रता है, पर भारत में दरिद्रता का अर्थ पाप, गंदगी, व्यभिचार और दुर्व्यसन तो कभी भी नहीं। अन्य देशों में तो ऐसे अवसर प्राप्य हैं कि केवल व्यभिचारी और आलसी लोग ही दरिद्री बने रहें। दरिद्रता का वहाँ कारण ही नहीं जब तक कि मनुष्य निपट मूढ़ अथवा मक्कार ही न हो, ऐसा मूढ़ जिसे नागरिक जीवन के ऐश्वर्य मात्र का मोह हो। ऐसे लोग गांव में तो कभी जावेंगे ही नहीं। उनका कहना है कि हम तो जीवन के मनोरंजनों, रंगरेलियों के बीच रहते हैं, भोजन हमें दिया ही जाना चाहिये। पर हमारे देश की बात तो ऐसी नहीं। यहाँ के दरिद्र लोग सबेरे से दिन डूबे तक पसीना बहाते हैं और जिसके बाद कोई और तीसरा आदमी आकर उनके हाथ से उनकी रोटी छीन ले जाता है—उनके बच्चे भूखे

तड़पते रहते हैं। करोड़ों टन गेहूं भारत में पैदा किया जाता है, पर एक दाना भी तो गरीब के मुँह में जावे—उनका आसरा तो सबसे गंदा नाज़ है, ऐसा नाज़ जिसे आप अपनी पालतू चिड़ियों को भी न खिलावें।

तो अब सचमुच कोई कारण नहीं कि इतने अच्छे, इतने पवित्र—हाँ! इतने पवित्र लोगों को ऐसी मुसीबतें झेलनी पड़ें—बेचारे गरीब! इन कोटि कोटि दीन-दुखियों की दुखभरी कहानियाँ, उन पतिता स्त्रियों के दर्द भरे किस्से बहुत सुनाई पड़ा करते हैं—पर कोई तो आवे उनका दुःख दूर करने, उनका दर्द बँटाने। तिस पर कहा क्या जाता है—'आपका दुख, आपका दर्द बस तभी दूर हो सकेगा जब कि आप वह न रहें जो कि आप हैं,—हिन्दुओं को मदद देना व्यर्थ है।' ऐसा कहने वालों को जातियों के इतिहास का ज्ञान नहीं। भारत तो उस दिन बचेगा ही कहाँ जिस दिन उस जाति की प्राणदायिनी शक्तियों का अन्त हो जावेगा—जिस दिन वहाँ के निवासी अपना धर्म परिवर्तन कर लेंगे, जिस दिन वे अपनी संस्थाओं का रूपान्तर कर देंगे! उस दिन? उस दिन विलीन हो जावेगी वह जाति—आपको मदद करने के लिए कोई ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

एक बात और भी हम सबों को सीख लेनी है—और वह यह कि सचमुच में किसी को सहायता दे सकना क्या सच्ची बात है? हम एक दूसरे के लिए क्या कुछ कभी कर भी सकते हैं? आप

अपने जीवन में बढ़ते जाते हैं, मैं अपने जीवन में। बहुत से बहुत यह सम्भव है कि मैं आपको थोड़ा सा सहारा देकर आगे बढ़ा दूँ—जिससे अन्ततो गत्वा आप भी अपनी मंज़िल पर पहुँच जावें—उस पूरी जानकारी के साथ कि सारी दुनिया का मंज़िले मक़सूद एक ही है—राहें अलग अलग। All roads lead to Rome—यह सब क्रमिक वृद्धि है। ऐसी कोई राष्ट्रीय सभ्यता नहीं जिसे पूर्ण कहा जा सके। सभ्यता को एक थोड़ा सा सहारा दे दीजिए—और वह अपने मंज़िले मक़सूद को पहुँच जावेगी। उसे बदल डालने का प्रयास न कीजिये। छीन लीजिए किसी देश से उसकी संस्थाएँ, उसके रीति-रिवाज, उसके चाल-चलन, बच ही क्या रहेगा भला फिर—इन्हीं तंतुओं से तो राष्ट्र बँधा रहता है।

पर तभी विदेशी पण्डितमहोदय आते हैं और कहते हैं—"देखिये महाशयजी—इन हजारों वर्षों की संस्थाओं और रीतियों को दीजिये आप तिलांजलि और गले लगाइये हमारा यह नयी मूढ़ता का टीन पाट और मौज करिए।" कैसा मज़ाक है?

हमें आपस में मदद तो करनी होगी, निस्संदेह—पर एक कदम इसके आगे भी जाना होगा। मदद करने में सबसे अधिक ज़रूरी है कि हम स्वार्थ के परे हो जावें। "मैं तुम्हें तभी मदद करूँगा जब तुम मेरे कहने के अनुसार ही बर्ताव करोगे, अन्यथा नहीं।" क्या यह मदद है?

और इसलिए यदि हिन्दू तुम्हें आध्यात्मिक सहायता पहुँचाना

चाहता है तो वह पूर्ण निरपेक्ष, सम्पूर्ण नि:स्वार्थ बनकर ही अग्रसर होगा। मैंने दिया और बस, बात खत्म हो गई वहीं।—मुझसे चली गई दूर। मेरा दिमाग, मेरी शक्ति, मेरा सर्वस्व अथवा जो कुछ भी मैं दे सकूँ....वह सब ....सब कुछ दे दिया—इसलिए दे दिया कि देना था—और देकर सब खत्म कर दिया। मैंने देखा है, दुनिया के आधे लोगों को लूटकर दानवीर धर्मादि कार्य में साठ हजार रुपयों तक का दान कर देते हैं, बस इसलिए कि बुतपरस्त का सुधार हो जावे—वह बदल जावे। क्यों भला?—इसलिए कि बुतपरस्त और सुधर जावे—अथवा उनकी ही आत्मा का उत्कर्ष हो जावे? सोचिये ज़रा इस प्रश्न पर।

दम्भ के बीजों का काम चला हुआ है। हम अपनी ही आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं। पर हमारे कलेजे के भीतर वह विद्यमान है—मौजूद है वही परम-सत्य, वह कुछ भूलता नहीं—उसे हम धोखा दे नहीं सकते—उसकी आँखों में धूल डाली नहीं जा सकती। जहाँ कहीं सच्ची दानशीलता की प्रेरणा मौजूद है, उसका असर तो होगा ही—चाहे वह हजारों वर्षों के ही बाद क्यों न हो? रोक दीजिए उसे, वह जाग जावेगा, और उल्कापात की नाईं ज़ोर से उमड़ पड़ेगा। हर ऐसी प्रेरणा जिसका उद्देश्य स्वार्थपूर्ण है, स्वार्थप्रेरित है—कभी भी अपने लक्ष्य पर न पहुँच पावेगा वह—रंग दीजिए आप सारे अखबारों को उसकी चमकीली तारीफों से, खड़े कर दीजिए विराट् जनसमूहों को आप उसका जयजयकार करने के लिए।

मैं अपने को गौरवान्वित नहीं कर रहा। पर देखिये, मैं कह रहा था उन बालक युवकों की कहानी। आज भारत में ऐसा गांव नहीं, ऐसा पुरुष नहीं, ऐसी नारी नहीं जिसे उनके कार्य का पता न हो, जिस पर उनका आशीर्वाद न हो। देश में ऐसा दुष्काल नहीं जिसकी दाढ़ में घुसकर, डूबकर ये लोग रक्षा का काम न करें—ज्यादा से ज्यादा लोगों को न बचावें। उनकी बोली हृदय को बेधती है, उस पर जादू डालती है, दुनिया उसे जान जाती है—जहाँ आपका मन चाहे मदद दीजिए। बस ख्याल रखिए अपने उद्देश का, अपने लक्ष्य का। अगर स्वार्थी है आपका उद्देश तो न तो औरों को उससे फायदा होगा, और न आपको ही स्वयं। यदि वह स्वार्थ-शून्य है, तो जिसके लिए किया जा रहा है उसे तो फायदा करेगा ही—पर साथ ही विश्वास रखिए आपके ऊपर भी अमोघ आशीर्वादों की वर्षा करेगा—उतना ही विश्वास रखिए इसमें जितना आप अपने जीवन में रखते हैं। प्रभु को चकमा नहीं दिया जा सकता—कर्म के नियम को भ्रम में नहीं डाला जा सकता।

हाँ, तो फिर, मेरी योजना है, भारत के इस जनता-जनार्दन के पास तक पहुँचने की। मान लीजिए इन तमाम गरीबों को शिक्षित करने के लिए आपने पाठशालाएँ खोल भी दीं तो क्या उनको शिक्षित कर देना सम्भव होगा? कैसे होगा? चार बरस का बालक आपकी पाठशाला में जाने की अपेक्षा अपने हल-बखर की ओर

अधिक फायदे से जाना चाहेगा। तुम्हारी पाठशाला को वह न जा सकेगा। असम्भव है। आत्मरक्षा निसर्ग का पहला अन्तर्निहित स्वभाव है। पर अगर पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं जाता तो मुहम्मद पहाड़ के पास पहुँच जावेगा। मैं कहता हूँ कि शिक्षा स्वयं दरवाजे दरवाजे क्यों न जावे? अगर खेतिहार का लड़का शिक्षा तक पहुँच नहीं पाता तो उससे उसके हल के पास ही, उसके कारखाने में ही—जहाँ भी वह हो तहाँ ही—क्यों भेंट न की जावे? जाइये उसी के साथ उसकी परछाईं के समान। ये जो हजारों और लाखों की संख्या में संन्यासी हैं और जनता को आध्यात्मिक भूमिका पर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, क्यों न शिक्षा प्रदान करें बौद्धिक भूमिका पर भी? क्यों न वे जनता से इतिहास के विषय की बात करें—इतिहास या और भी कोई विषय की? हमारे कान ही तो हमारे सबसे प्रभावशाली शिक्षक हैं। हमारे जीवन के सर्वोत्तम सिद्धान्त वे ही तो हैं जिन्हें हमारे कानों ने अपनी माताओं से सुना था। किताबें तो बाद में आईं। किताबी ज्ञान की भी कुछ बिसात है? कानों के जरिये ही हमें सृजनात्मक सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। फिर ज्यों ज्यों उनकी दिलचस्पी बढ़ने लगेगी वे आपकी किताबों को भी गले लगाने लगेंगे। पहिले उसे चलने दीजिए, मेरा यही विचार है।

मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मुझे इन संन्यासी सम्प्रदायों में बहुत श्रद्धा नहीं। वे बड़े अच्छे हैं और उनकी बड़ी बुराइयाँ भी हैं। पर संन्यासियों और गृहस्थों के बीच बड़ा सच्चा संतुलन

अपेक्षित है। लेकिन भारत की सारी शक्ति संन्यासी सम्प्रदायों ने हथया ली है। हममें आज सबसे विशाल शक्ति का प्रतिनिधित्व है। आज का संन्यासी राजकुमार से बढ़ कर है। भारत का ऐसा कोई सम्राट नहीं जो गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी के समक्ष आसन ग्रहण करे—अपना आसन छोड़कर वह खड़ा ही रहता है। इतनी अधिक शक्ति—कितने ही अच्छे लोगों के हाथ में हो, अच्छी हो नहीं सकती—यद्यपि मैं मानता हूँ कि लोगों की सुरक्षा इन संन्यासी सम्प्रदायों के द्वारा पर्याप्त मात्रा में हुई हैं। ये संन्यासी पुरोहिताई और ज्ञान के बीच में खड़े हुए हैं। सुधार और ज्ञान के ये केन्द्र हैं। इनका वही स्थान है जो यहूदियों में पैगम्बरों का था। पैगम्बर सदा पुरोहितों के बीच में यही प्रचार करते रहे कि अंधविश्वासों को मार भगाना चाहिए। बस यही हाल भारत में हुआ। जो भी हो, पर इतनी शक्ति वहाँ ठीक नहीं—इससे भी अच्छी रीतियों का अनुसन्धान किया जाना चाहिए। पर जहाँ सबसे कम आफत हो उसी रीति का लोग अवलम्बन करते हैं। भारत की सारी राष्ट्रीय आत्मा संन्यास पर ही केन्द्रित है। आप भारत में जाइये और किसी भी गृहस्थ के सामने कोई धर्म-सन्देश कहिए। हिन्दू मुँह फेर कर चले जायेंगे—पर आपने यदि संसार त्याग दिया है तो अलबत्त वे कहेंगे, "हाँ यह ठीक है, उन्होंने तो संसार तज दिया। वे सच्चे हैं, वे वही करना चाहते हैं, जो कहते हैं।" मेरे कहने का अभिप्राय यह कि ये लोग अपने में एक विराट शक्ति रखते हैं। और हमें जो करना है वह यह कि हम इसका रूपान्तर कर देवें—उसे और आकार दे

देवें। परिभ्रमण करने वाले संन्यासियों के हाथों में सन्निहित यह अपरिमित शक्ति रूपान्तरित हो जानी चाहिए, जिससे अपार जनसमूह उद्बुद्ध हो जावे, उन्नत हो जावे।

आप देखते हैं कि कागजों के ऊपर हम कैसी अच्छी योजना बना लेते हैं—पर अब मैंने तो उसे आदर्शवाद के आकाशों से दूर खींच लिया है। अभीतक मेरी योजना शिथिल थी, केवल एक आदर्श के ही रूप में थी। पर समय के बीतने पर वह स्थिर और सुस्पष्ट हो गई, मैंने उसकी क्रियाशीलता में उसके दोषों को परख लिया।

भौतिक भूमिका पर उसे क्रियान्वित करने से मुझे क्या ज्ञान प्राप्त हुआ? पहिले, हमें ऐसे केन्द्रों की ज़रूरत है जहाँ संन्यासियों को ऐसी शिक्षा की रीतियों से अवगत कराने की व्यवस्था हो सके। उदाहरणार्थ, मैं अपने एक मित्र को केमरा लेकर बाहर भेज देता हूँ—पर इसके पहिले उसे उसके बारे में सिखा देना भी तो आवश्यक है। आप देखेंगे कि भारत का हर आदमी बिल्कुल निरक्षर है, इसलिए शिक्षा देने के लिए विशाल केन्द्रों की ज़रूरत है। और इस सब का क्या मतलब है—धन—द्रव्य।—आदर्श की भूमिका पर से आप दैनिक कार्य प्रणाली पर उतर आते हैं। ठीक, मैंने आपके देश में चार वर्ष श्रम किया और इंग्लैण्ड में दो वर्ष। और यह उपकार है कि कुछ मित्रों ने मुझे बचा लिया। आज की मण्डली में उनमें से एक उपस्थित हैं। कुछ अमरीकी और अंग्रेजी मित्र मेरे साथ भारत भी गए और हमारा कार्य बड़े ही मन्द रूप में आरम्भ हुआ। कुछ

अंग्रेज भी आये और सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए। एक गरीब ने बड़ा परिश्रम किया और भारत में उनका देवलोक भी हो गया। एक अंग्रेज सज्जन और देवी ने अवकाश ग्रहण कर लिया। उनके पास कुछ साधन हैं, उन्होंने हिमालय में एक केन्द्र का सूत्रपात किया और वे बालकों को शिक्षा देते हैं। मैंने उनके जिम्मे अपना एक पत्र दे दिया—'प्रबुद्ध भारत'—जिसकी एक प्रतिलिपि टेबल पर रखी है। और वहाँ पर वे लोग जनता को शिक्षा देते तथा कार्य करते हैं। मेरा एक केन्द्र कलकत्ता में है। स्वभावत: राजधानी से ही तो सब आन्दोलन प्रारम्भ होते हैं—क्योंकि राजधानी है ही क्या—राष्ट्र का हृदय;—सारा रक्त पहिले हृदय में आता है और फिर सब जगह वितरित होता है। अत: सारा धन, सारी विचार-धाराएँ, सारी शिक्षा, सारी आध्यात्मिकता पहिले तो राजधानी में ही पहुँचेंगी और वहाँ से सर्वत्र प्रसृत होंगी।

मुझे यह हर्ष होता है कि हमने बहुत छोटे रूप में श्रीगणेश किया। पर इसीकी समानान्तर रेखा पर मैं नारियों के लिए भी आयोजना करना चाहता हूँ। मेरा सिद्धान्त है कि प्रत्येक अपनी सहायता करता है। मेरी सहायता तो दूर की सहायता है। भारतीय देवियाँ, अंग्रेजी देवियाँ, और मुझे आशा है, अमरीकी देवियाँ भी इस कार्य में हाथ बटावेंगी। उसे आरम्भ करके मैं अपना हाथ अलग कर लेना चाहूँगा। नारी पर पुरुष क्यों शासन करे—तथैव पुरुष पर नारी क्यों शासन करे? प्रत्येक स्वतंत्र है। यदि कोई बन्धन है तो वह है प्रेम का।

देवियाँ स्वयँ ही पुरुषों की अपेक्षा अपने भाग्य का विधान कर लेंगी। जो सब अनौचित्य उद्भूत हुआ सो केवल इसीलिए कि पुरुषों ने स्त्रियों के भाग्य-विधान का ठेका ले डाला। और मैं ऐसी गलती करके श्रीगणेश नहीं करना चाहता, क्योंकि यही गलती फिर तरक्की करते करते द्विगुणित होती जावेगी, इतनी बड़ी हो जावेगी कि अन्ततोगत्वा उसके रूप-आकार को संभाल सकना असम्भव हो जावेगा। अतः यदि स्त्रियों का कार्य करने के लिए पुरुषों को व्यस्त करने की भूल मैंने की तो स्त्रियाँ तो कभी भी उससे मुक्त न हो सकेंगी।——वह एक रस्म ही बन जावेगी। पर मुझे एक बार अवसर मिला है। मैंने आपको अपने गुरुदेव की धर्मपत्नी की बात बता दी है। मेरी उन पर अटूट श्रद्धा है——वे कभी भी मुझ पर शासन नहीं करतीं, अतः यह मार्ग पूर्णतः सुरक्षित है।

यह कार्य अभी सम्पन्न किया जाना है।

स्वामी विवेकानन्द की कुछ सूक्तियाँ।

(१) मेरा आदर्श थोड़े से शब्दों में व्यक्त है : नर को उसके नारायणत्व का सन्देश दो और उसे बताओ कि जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उसे वह कैसे चरितार्थ करे।

(२) यह संसार अंधविश्वास की शृंखला में जकड़ा है। मुझे दलित से सहानुभूति है—चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष—पर दलन करने वाले से मुझे और भी अधिक सहानुभूति है।

(३) संसार के धर्म एक निर्जीव उपहास, प्रहसन रह गए हैं। संसार की जिसे ज़रूरत है वह है चरित्र। संसार को ज़रूरत है ऐसों की जिनका जीवन एक जाज्वल्यमान प्रेम है—एकदम निःस्वार्थ। उस प्रेम का शब्द बिजली के समान गरजता हुआ बोलता है।

(४) पुराने धर्मों का मत था कि ईश्वर में श्रद्धा न रखने वाला नास्तिक है, नवीन धर्म कहता है कि अपने में श्रद्धा न रखने वाला ही नास्तिक है।

(५) मैं जैसा ही बड़ा होता जाता हूँ, वैसे ही मुझे सब कुछ 'मनुष्यत्व' में ही निहित मालूम पड़ता है। यह मेरी नयी शिक्षा है।

बुराई भी करो, तो 'मनुष्य' की तरह। यदि आवश्यक ही हो तो निर्दयी भी बनो, पर उच्च धरातल पर।

(६) पहिले रोटी, बाद में धर्म।

(७) मेरे देश का एक कुत्ता भी जब तक भूखा है तब तक उसको भोजन मिलाना ही मेरा सारा धर्म।

(८) परमात्मा को खोजना है तो मनुष्य की सेवा करो।

(९) मैं बार बार जन्मूँ, सहस्रशः मुझ पर मुसीबतें पड़ें, जिससे मैं उस परमेश्वर की, जिस एकमात्र परमेश्वर में मैं विश्वास करता हूँ और जो विश्व की समस्त आत्माओं की समष्टि है, पूजा कर सकूँ।

(१०) पश्चिम तो सूदखोरों की निरंकुशता के नीचे कराह रहा है और पूर्व पुरोहितों की।

(११) यदि भावी पचास वर्षों में आध्यात्मिक आधार-भूमि प्रस्तुत न हुई तो पश्चिम की सारी सभ्यता शेष हो जावेगी। तलवार की धार से मानव पर शासन करने की चेष्टा एकदम व्यर्थ है, फजूल है।

(१२) यह समझ लीजिये कि भारत अभी भी जी रहा है और जी

रहा है इसलिए कि विश्व-संस्कृति के सामान्य भाण्डार में उसे भी अपनी देन देनी है।

(१३) स्मरण रहे—भारत का सन्देश है—प्रकृति आत्मा के लिए—आत्मा प्रकृति के लिए कदापि नहीं।

(१४) एक धर्म का प्रभु सारे धर्मों का प्रभु है।

(१५) यदि एक धर्म सच्चा है तो और भी सारे धर्म सच्चे हैं। इसलिए हिन्दू धर्म मेरा भी उतना है जितना कि आपका।

(१६) आदर्श समक्ष रखिए—'जनता का उत्थान—धर्म को बिना धक्का पहुँचाए।'

(१७) पाँच सौ पुरुषों को भारत विजय करने में पचास वर्ष लग जावें—पर पाँच सौ देवियाँ उसे कुछ ही सप्ताहों में सम्पन्न कर डालेंगी।

(१८) प्रत्येक आत्मा एक सूर्य है जिस पर अज्ञान के मेघ छाये हुए हैं। विभिन्न आत्माओं में जो भेद है वह है इन मेघों की सघनता के तारतम्य का।

(१९) मानव असीम स्वप्नद्रष्टा—स्वप्न देखे ससीम!

(२०) पहले स्वयं हमीं दैवत्व प्राप्त करें—बाद में औरों को उस ओर सहायता दें—"बनो और बनाओ" यही हमारा उद्देश्य हो।

हमारे नवीन प्रकाशन

ज्ञानयोग

स्वामी विवेकानन्द कृत, सचित्र, पृ. सं. ३२५, मूल्य ३ रु.

"स्वामी विवेकानन्द द्वारा वेदान्त पर दिए गये भाषणों का संग्रह। इन व्याख्यानों में स्वामीजी ने वेदान्त के गूढ़ तत्वों की ऐसे सरल, स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से विवेचना की है कि आजकल के शिक्षित जनसमुदाय को ये खूब जँच जाते हैं।.... मनुष्य के दैवी स्वरूप पर वेदान्त ज़ोर देता है और उसीमें समस्त विश्व की आशा, कल्याण तथा शान्ति निहित है।"

स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप

सचित्र, मूल्य १ रु. ४ आ.

"ये वार्तालाप धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अनेक विषयों पर हैं। इनमें स्वामी विवेकानन्द ने यह दर्शाया है कि वास्तव में भारतीय संस्कृति का क्या अर्थ है; साथ ही उन्होंने वे मार्ग तथा साधन भी दर्शाये हैं जिनसे हमारी इस संस्कृति का पुनरुत्थान हो सकता है।"

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण), मूल्य ६); द्वितीय भाग-मूल्य ६); तृतीय भाग-मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**–(विस्तृत जीवनी)–(द्वितीय संस्करण)– दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र. द्वि.सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८.	**भारत में विवेकानन्द**–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान)		५)
९.	**ज्ञानयोग**	(प्रथम संस्करण)	३)
१०.	**पत्रावली (प्रथम भाग)**	(प्रथम संस्करण)	२=)
११.	,, **(द्वितीय भाग)**	(प्रथम संस्करण)	२=)
१२.	**धर्मविज्ञान**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३.	**कर्मयोग**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१४.	**हिन्दू धर्म**	(द्वितीय संस्करण)	१॥)
१५.	**प्रेमयोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१६.	**भक्तियोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१७.	**आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**	(द्वितीय संस्करण)	१।)
१८.	**परिव्राजक**	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१९.	**प्राच्य और पाश्चात्य**	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
२०.	**महापुरुषों की जीवनगाथायें**	(प्रथम संस्करण)	१।)
२१.	**राजयोग**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२२.	**स्वाधीन भारत! जय हो!**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२३.	**धर्मरहस्य**	(प्रथम संस्करण)	१)
२४.	**भारतीय नारी**	(प्रथम संस्करण)	॥।)
२५.	**शिक्षा**	(प्रथम संस्करण)	॥=)

२६. **शिकागो वक्तृता** (प्रथम संस्करण) ॥≈)
२७. **हिन्दू धर्म के पक्ष में** (द्वितीय संस्करण) ॥≈)
२८. **मेरे गुरुदेव** (चतुर्थ संस्करण) ॥≈)
२९. **कवितावली** (प्रथम संस्करण) ॥≈)
३०. **वर्तमान भारत** (तृतीय संस्करण) ॥)
३१. **पवहारी बाबा** (द्वितीय संस्करण) ॥)
३२. **सरल राजयोग** (प्रथम संस्करण) ॥)
३३. **मरणोत्तर जीवन** (द्वितीय संस्करण) ॥)
३४. **मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें** ॥)
३५. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥≈)
३६. **मेरी समर-नीति** (प्रथम संस्करण) ।≋)
३७. **ईशदूत ईसा** (प्रथम संस्करण) ।≈)
३८. **विवेकानन्दजी की कथायें** (प्रथम संस्करण) १।)
३९. **परमार्थ-प्रसंग**—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)
४०. **श्रीरामकृष्ण-उपदेश**, (प्रथम संस्करण) ॥≈)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति), ३।)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३।)
३. **श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा** (दुसरी आवृत्ति) ॥।≈)
४. **शिकागो-व्याख्यानें**—(दुसरी आवृत्ति) स्वामी विवेकानन्द ॥≈)
५. **माझे गुरुदेव** (दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानन्द ॥≈)
६. **हिंदु-धर्माचें नव-जागरण**—स्वामी विवेकानंद ॥−)
७. **पवहारी बाबा**—स्वामी विवेकानंद ॥)
८. **साधु नाग महाशय चरित्र** (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)—(दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर—१, म. प्र.